जैन धर्म का एक विलुप्त सम्प्रदाय: यापनीय

सामान्यतया आज विद्वर्ग और जन-साधारण जैन धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदायों-श्वेताम्बर और दिगम्बर से ही परिचित हैं किन्तु उसका 'यापनीय' नामक एक अन्य महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय भी था, जो ई० सन् की दूसरी शती से पन्द्रहवीं शताब्दी तक (लगभग १४०० वर्ष) जीवित रहा और जिसने न केवल अनेक जिन-मन्दिर बनवाये एवं मूर्तियाँ स्थापित कीं, अपितु जैन-साहित्य-क्षेत्र में और विशेषकर शौरसेनी जैन-साहित्य के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण अवदान प्रदान किया। यह सम्प्रदाय आज से ५० वर्ष पूर्व तक जैन-समाज के लिए पूर्णत: अज्ञात बना हुआ था। संयोग से विगत ५० वर्षों की शोधात्मक प्रवृत्तियों के कारण इस सम्प्रदाय के कुछ अभिलेख एवं ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। फिर भी अभी तक इस सम्प्रदाय पर चार-पाँच लेखों के अतिरिक्त कोई भी विशेष सामग्री प्रकाशित नहीं हुई है। सर्वप्रथम प्रो० ए. एन उपाध्ये एवं पं० नाथूराम जी प्रेमी ने ही इस सम्बन्ध में कुछ लेख प्रकाशित किये थे[१]। किन्तु उनके पश्चात् इस दिशा में पुन: उदासीनता आ गई है। प्रस्तुत लेख उसी उदासीनता को तोड़ने का एक प्रयास मात्र है। आशा है जैन-विद्या के विद्वान् इस दिशा में सक्रिय होंगे।

आज विशृङ्खलित होते हुए जैन-समाज के लिए इस सम्प्रदाय का ज्ञान और भी आवश्यक है क्योंकि इस सम्प्रदाय की मान्यताएँ आज भी जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर शाखाओं के बीच योजक कड़ी बन सकती हैं। दुर्भाग्य से आज भी अनेक जैन विद्वान् और मुनिजन यह नहीं जानते हैं कि एक ऐसा सम्प्रदाय जो श्वेताम्बर और दिगम्बर के मध्य एक योजक कड़ी के रूप में विद्यमान था एवं लगभग १४०० वर्षों तक अपने को जीवित बनाये रखकर आज से ६०० वर्ष पूर्व काल के गर्भ में ऐसा विलीन हो गया कि आज लोग उसका नाम तक नहीं जानते हैं। आज जैन धर्म में 'यापनीय' परम्परा का कोई भी अनुयायी नहीं है। यह परम्परा आज मात्र इतिहास की वस्तु बनकर रह गयी है किन्तु इनके द्वारा स्थापित मन्दिर एवं मूर्तियाँ तथा सृजित साहित्य सहज ही आज हमें उसका स्मरण करा देते हैं। आज जब जैन धर्म में भी साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढमूल होता जा रहा है, यापनीय संघ के इतिहास और उनकी मान्यताओं का बोध न केवल जैन संघ में समन्वय का सूत्रपात कर सकता है, वरन् टूटते हुए जैन संघ को पुन: एकता की कड़ी में जोड़ सकता है। वस्तुत: 'यापनीय' परम्परा वह सेतु है जो श्वेताम्बर और दिगम्बर के बीच की खाई को पाटने में आज भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। अग्रिम पंक्तियों में हम ऐसे महत्त्वपूर्ण और समन्वयवादी सम्प्रदाय के सन्दर्भ में गवेषणात्मक दृष्टि से कुछ विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

यापनीय शब्द का अर्थ

भाषा एवं उच्चारण-भेद के आधार पर आज हमें 'यापनीय' शब्द के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं यथा-यापनीय, जापनीय, यपनी, आपनीय, यापुलिय, आपुलिय, जापुलिय, जावुलीय, जाविलिय, जावलिय, जावलिगेय, आदि-आदि[२]। सर्वप्रथम 'यापनीय' शब्द का प्रयोग हमें जैन आगम-साहित्य और पाली त्रिपिटक-साहित्य में प्राप्त होता है। प्राकृत और पाली-साहित्य में 'यापनीय' शब्द का प्रयोग कुशल-क्षेम पूछने के प्रसंग में ही हुआ है। दूसरों से कुशल-क्षेम पूछते समय यह पूछा जाता था कि आपका 'यापनीय' कैसा है (किं यापनीयं ?)। 'भगवती' नामक जैन-आगम में यापनीय का प्राकृत रूप 'जावनिच्च' प्राप्त होता है। भगवती में सोमिल नामक ब्राह्मण भगवान महावीर से प्रश्न करता है- हे भन्ते ! आपकी यात्रा कैसी हुई ? आपका यापनीय कैसा है ? आपका स्वास्थ्य (अव्वावह) कैसा है ? आपका विहार कैसा है ?[३] भगवती और ज्ञाताधर्मकथा में इस प्रसंग में दो प्रकार से यापनीयों की चर्चा हुई है - इन्द्रिय-यापनीय और नो-इन्द्रिय यापनीय। इन्द्रिय-यापनीय की व्याख्या करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था कि मेरी श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियाँ व्याधिरहित एवं मेरे नियन्त्रण में हैं। इसी प्रकार नो-इन्द्रिय यापनीय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि मेरे क्रोध, मान, माया, लोभ विच्छिन्न या निर्मूल हो गये हैं, अब वे अभिव्यक्त या प्रकट नहीं होते हैं[४]?

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भगवतीसूत्र में इन्द्रिय और मन की नियन्त्रित एवं शान्त स्थिति के अर्थ में ही यापनीय शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्द्रियों की वृत्तियों और मन की वासनाओं का शान्त एवं नियन्त्रित होना ही यापनीय की कुशलता का सूचक है। वस्तुत: यह मनुष्य के मानसिक कुशल-क्षेम का सूचक है। 'किं जवणिच्च' का अर्थ है आपकी मनोदशा कैसी है ? अत: यापनीय शब्द मनोदशा (Mood) या मानसिक स्थिति (Mental state) का सूचक है। इस शब्द का प्रयोग मन की प्रसन्नता को जानने के लिए प्रश्न के रूप में किया जाता था।

बौद्ध पाली-साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है[५]। भगवान बुद्ध का अपने ग्राम में आगमन होने पर भृगु, भगवान से पूछते हैं कि हे भिक्षु ! आपका क्षमा-भाव कैसा है ? आपका यापनीय कैसा है ? आपको आहार आदि के लाभ में कोई कठिनाई तो नहीं है ? प्रत्युत्तर में भगवान बुद्ध ने कहा, मेरा क्षमा-भाव (क्षमनीय) अच्छा है, मेरा यापनीय सुन्दर है। मुझे आहार-लाभ में कोई कठिनाई नहीं है। इस प्रकार यहाँ भी यापनीय शब्द जीवन-यात्रा के कुशल-क्षेम के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त हुआ है। 'किच्च यापनीय' का अर्थ है आपकी जीवन-यात्रा कैसी चल रही है ?

इस प्रकार हम देखते है कि जहाँ पाली-साहित्य में 'यापनीय' शब्द जीवन-यात्रा के सामान्य अर्थ का सूचक है। वहाँ जैन-साहित्य में वह इन्द्रियों एवं मन की वृत्तियों या मनोदशा का सूचक है, भगवती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और ज्ञाताधर्मकथा में 'इन्द्रिय-यापनीय' और 'नो-इन्द्रिय-यापनीय' को स्पष्ट करते हुए यही बताया गया है कि जिसकी इन्द्रियाँ स्वस्थ और नियन्त्रण में हैं तथा जिसका मन वासनाओं के आवेग से रहित एवं शान्त हो चुका है, ऐसे नियन्त्रित इन्द्रिय और मनवाले व्यक्ति का यापनीय कुशल है। यद्यपि यहाँ 'यापनीय' शब्द इन्द्रिय और मन की वृत्तियों का सूचक है किन्तु अपने मूल अर्थ में तो यापनीय शब्द व्यक्ति की 'जीवन-यात्रा' का सूचक है। व्यक्ति की जीवनयात्रा के कुशलक्षेम को जानने के लिए ही उस युग में यह प्रश्न किया जाता था कि आपका यापनीय कैसा है ? बौद्ध-परम्परा में इसी अर्थ में यापनीय शब्द का प्रयोग होता था किन्तु जैन-परम्परा ने उसे एक आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया था। ज्ञाताधर्मकथा एवं भगवती में महावीर 'यात्रा' को ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना से जोड़ा तो 'यापनीय' को इन्द्रिय और मन की वृत्तियों से। इस प्रकार निर्ग्रन्थ-परम्परा में यापनीय शब्द का एक नया अर्थ लिया गया। प्रो० ए. एन. उपाध्ये यहाँ अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि-"नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा) में 'इन्दिय जवणिज्जे' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ यापनीय न होकर यमनीय होता है, जो यम् (नियन्त्रण) धातु से बनता है। इसकी तुलना 'थवणिज्ज' शब्द से की जा सकती है जो स्थापनीय शब्द के लिए प्रयुक्त होता है। इस तरह 'जवणिज्ज' का सही संस्कृत रूप यापनीय नहीं हो सकता। अत: जवणिज्ज' साधु वे हैं जो यम-याम का जीवन बिताते थे। इस सन्दर्भ में पार्श्व प्रभु के चउज्जाम-चातुर्याम धर्म से यम-याम की तुलना की जा सकती है।"[६]

किन्तु प्रो० ए. एन. उपाध्ये का 'जवनिच्च' का यमनीय अर्थ करना उचित नहीं है। यदि उन्होंने विनयपिटक का उपर्युक्त प्रसंग देखा होता जिसमें 'यापनीय' शब्द का जीवनयात्रा के कुशल-क्षेम जानने के सन्दर्भ में स्पष्ट प्रयोग है, तो सम्भवत: वे इस प्रकार का अर्थ नहीं करते। यदि उस युग में इस शब्द का 'यमनीय' के रूप में प्रयोग होता तो फिर पाली-साहित्य में यापनीय शब्द का स्पष्ट प्रयोग न मिलकर 'यमनीय' शब्द का ही प्रयोग मिलता। अत: स्पष्ट है कि मूल शब्द 'यापनीय' ही है, यमनीय नहीं है। यद्यपि आगमों में आध्यात्मिक दृष्टि से यापनीय शब्द की व्याख्या करते हुए उसे अवश्य ही मन और इन्द्रिय की नियंत्रित या संयमित दशा का सूचक माना गया है।

यापनीय शब्द की उपर्युक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त विद्वानों ने उसकी अन्य व्याख्यायें भी देने का प्रयत्न किया है। प्रो० तैलंग के अनुसार यापनीय शब्द का अर्थ बिना ठहरे सदैव विहार करने वाला है[७]। सम्भव है कि जब उत्तर और दक्षिण भारत में चैत्यवास अर्थात् मन्दिरों में अपना मठ बनाकर रहने की प्रवृत्ति पनप रही थी तब उन मुनियों को जो चैत्यवास का विरोध कर सदैव विहार करते थे - यापनीय कहा गया हो। किन्तु इस व्याख्या में कठिनाई यह है कि चैत्यवास का विकास परवर्ती है, वह ईसा की चौथी या पाँचवीं शती में प्रारम्भ हुआ जब कि यापनीय संघ ईसा की दूसरी के अन्त या तीसरी शती के प्रारम्भ में अस्तित्व में आ चुका था।

प्रो० एम० ए० ढाकी यापनीय शब्द के मूल में यावनिक मानते हैं। उनके अनुसार सम्भावना यह है कि मथुरा में शक और कुषाणों के काल में कुछ यवन जैन-मुनि बने हों और उनकी परम्परा यावनिक (यवन-इक्) कही जाती हो। उनके मतानुसार 'यावनिक' शब्द आगे चल कर यापनीय बन गया है[८]। यह सत्य है कि यापनीय परम्परा का विकास मथुरा में उसी काल में हुआ है, जब शक, हूण आदि के रूप में यवन भारत में प्रविष्ट हो चुके थे और मथुरा उनका केन्द्र बन गया था। फिर भी व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से यावनिक का यापनीय रूप बनना यह सन्तोषजनक व्याख्या नहीं है।

संस्कृत और हिन्दी शब्द कोशों में 'यापन' शब्द का एक अर्थ परित्याग करना या निष्कासित करना भी बताया गया है[९]। प्रो० आप्टे ने 'याप्य' शब्द का अर्थ निकाले जाने योग्य, तिरस्करणीय या नीच भी बताया है[१०] इस आधार पर यापनीय शब्द का अर्थ नीच, तिरस्कृत या निष्कासित भी होता है। अत: संभावना यह भी हो सकती है कि इस वर्ग को तिरस्कृत, निष्कासित या परित्यक्त मानकर 'यापनीय' कहा गया हो।

वस्तुत: प्राचीन जैन-आगमों एवं पाली-त्रिपिटक में यापनीय शब्द जीवन-यात्रा के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था। 'आपका यापनीय कैसा है' इसका अर्थ होता था कि आपकी जीवन-यात्रा किस प्रकार चल रही है। इस आधार पर मेरा यह मानना है कि जिनकी जीवन-यात्रा सुविधापूर्वक चलती हो वे यापनीय हैं। सम्भवत: जिस प्रकार उत्तर भारत में श्वेताम्बरों ने इस परम्परा को अपने साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश में 'बोटिक' अर्थात् भ्रष्ट या पतित कहा; उसी प्रकार दक्षिण में दिगम्बर परम्परा ने भी उन्हें सुविधावादी जीवन के आधार पर अथवा उन्हें तिरस्कृत मानकर यापनीय कहा हो।

इस प्रकार हमने यहाँ यापनीय शब्द की सम्भावित विभिन्न व्याख्याओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किन्तु आज यह बता पाना तो कठिन है कि इन विविध विकल्पों में से किस आधार पर इस वर्ग को यापनीय कहा गया था।

बोटिक शब्द की व्याख्या

यापनीयों के लिए श्वेताम्बर-परम्परा में लगभग ८वीं शताब्दी तक 'बोडिय' (बोटिक) शब्द का प्रयोग होता रहा है।[११] मेरी जानकारी के अनुसार श्वेताम्बर-परम्परा में सबसे पहले हरिभद्र के ग्रन्थों में यापनीय शब्द का प्रयोग हुआ है।[१२] फिर भी यापनीय और बोटिक एक ही हैं - ऐसा स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। हरिभद्र भिन्न-भिन्न प्रसंगों में इन दोनों शब्दों की व्याख्या तो करते हैं किन्तु ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं करते हैं।

'बोडिय' शब्द का संस्कृत रूपान्तरण बोटिक किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र की शान्त्याचार्य की टीका में बोटिक शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है -"बोटिकाश्चासौ चारित्रविकलतया मुण्डमात्रत्वेन[१३] अर्थात् चारित्रिक विकलता के कारण मात्र मुण्डित बोटिक कहे जाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। किन्तु इस व्याख्या से बोटिक शब्द पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। मात्र बोटिकों के चरित्र के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है।

मेरी दृष्टि में प्राकृत के 'बोडिय' के स्थान पर 'वाडिय' शब्द होना चाहिए था जिसका संस्कृत रूप वाटिक होगा। 'वाटिक' शब्द का अर्थ वाटिका या उद्यान में रहने वाला है। विशेषावश्यकभाष्य में शिवभूति की कथा से स्पष्ट है कि बोटिक मुनि नग्न रहते थे, भिक्षादि प्रसंग को छोड़कर सामान्यतया ग्राम या नगर में प्रवेश नहीं करते थे और वे नगर के बाहर उद्यानों या वाटिकाओं में ही निवास करते थे[१४]।

अत: सम्भावना यह है कि वाटिका में निवास के कारण वे वाडिय या बाडिय कहे जाते होगें जो आगे चलकर 'बोडिय' हो गया। हमें कल्पसूत्र में वेसवाडिय (वैश्यवाटिक) उडुवाडिय (ऋतुवाटिक) आदि गणों के उल्लेख मिलते हैं[१५]। जिस प्रकार श्वेतपट प्राकृत में सेतपट> सेअपड> सेअअड> सेबड़ा हो गया, उसी प्रकार सम्भवत: वाटिक> वाडिय> बाडिय > बोडिय हो गया हो। आज भी मालव-प्रदेश में उद्यान को बाडी कहा जाता है। इसी प्रसंग में मुझे मालवी बोली में प्रयुक्त 'बोडा' शब्द का भी स्मरण हो जाता है। गुजराती एवं मालवी में केशरहित मस्तक वाले व्यक्ति को 'बोडा' कहा जाता है। सम्भावना यह भी हो सकती है कि लुंचित केश होने से उन्हें 'बोडिय' कहा गया हो। शब्दों के रूप-परिवर्तन की ये व्याख्याएँ मैनें अपनी बुद्धयनुसार करने की चेष्टा की है। भाषाशास्त्र के विद्वानों से अपेक्षा है कि इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालें।

प्रो० एम० ए० ढाकी बोटिक की मेरी इस व्याख्या से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि 'बोटवुं' शब्द आज भी गुजराती में भ्रष्ट या अपवित्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है[१६]। सम्भवत: यह देशीय शब्द हो और उस युग में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता हो। अत: श्वेताम्बरों ने उन्हें साम्प्रदायिक अभिनिवेशवश 'बोडिय' कहा होगा। क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा उनकें लिए मिथ्यादृष्टि, प्रभूततर विसंवादी, सर्वविसंवादी और सर्वापलापी जैसे अनादरसूचक शब्दों का प्रयोग कर रही थी। भोजपुरी और अवधी में बोरना या बूड़ना शब्द डूबने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। व्यञ्जना से इसका अर्थ भी पतित या गिरा हुआ हो सकता है।

'बोडिय' शब्द की इन विभिन्न व्याख्याओं में मुझे प्रो० ढाकी की व्याख्या अधिक युक्तिसंगत लगती है। क्योंकि इस व्याख्या से यापनीय और बोटिक शब्द पर्यायवाची भी बन जाते हैं[१७] यदि यापनीय का अर्थ तिरस्कृत या निष्कासित और बोटिक का अर्थ भ्रष्ट या पतित है, तो दोनों पर्यायवाची ही सिद्ध होते हैं। किन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि ये दोनों नाम उन्हें साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश के वश दिये गये हैं। जहाँ श्वेताम्बरों ने उन्हें बोडिय (बोटिक=भ्रष्ट) कहा, वहीं दिगम्बरों ने उन्हें यापनीय-तिरस्कृत या निष्कासित कहा। इनके लिए बोटिक शब्द का प्रयोग केवल श्तेताम्बर-परम्परा के आगमिक व्याख्या-ग्रन्थों तक ही सीमित रहा है, इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। आगे चलकर इस वर्ग ने स्वयं अपने लिए 'यापनीय' शब्द को स्वीकार कर लिया होगा क्योंकि यापनीय शब्द की व्याख्या प्रशस्त अर्थ में भी सम्भव है। अभिलेखों में भी ये अपने को 'यापनीय' के रूप में ही अंकित करवाते थे।

यापनीय संघ की उत्पत्ति

यापनीय सम्प्रदाय कब उत्पन्न हुआ ? यह प्रश्न विचारणीय है। भगवान महावीर का धर्म संघ कब और किस प्रकार विभाजित होता गया इसका प्राचीनतम उल्लेख हमें कल्पसूत्र[१८] और नन्दीसूत्र[१९] की स्थविरावलियों में मिलता है। ये स्थविरावलियाँ स्पष्ट रूप से हमें यह बताती हैं कि यद्यपि महावीर का धर्मसंघ विभिन्न गणों में विभाजित हुआ और ये गण शाखाओं में, शाखायें कुल में और कुल सम्भोगों में विभाजित हुए, फिर भी नन्दीसूत्र और कल्पसूत्र की स्थविरावलियों में ऐसा कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है जिससे महावीर के धर्मसंघ के यापनीय, श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में विभाजित होने की कोई सूचना मिलती हो। इन दोनों स्थविरावलियों में भी कल्पसूत्र की स्थविरावली अपेक्षाकृत प्राचीन है, इसमें दो बार परिवर्धन हुआ है। अन्तिम परिर्वधन वीर-निर्वाण सम्वत् ९८० अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी का है। नन्दीसूत्र की स्थविरावली भी इसी काल की है किन्तु दोनों स्थविरावलियाँ स्थूलभद्र के शिष्यों से अलग हो जाती हैं। इनमें कल्पसूत्र की स्थविरावली का सम्बन्ध वाचक-वंश से जोड़ा जाता है[२०]। सम्भवत: गणधरवंश संघ-व्यवस्थापक आचार्यों की परम्परा (Administrative lineage) का सूचक है जबकि वाचक-वंश उपाध्यायों या विद्यागुरुओं की परम्परा का सूचक है। वाचक-वंश विद्यावंश है। यह विद्वान् जैनाचार्यों के नामों का कालक्रम से संकलन है।

कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियाँ अन्तिम रूप से देवर्धिगणि क्षमाश्रमण तक की परम्परा का वीरनिर्वाण से एक हजार वर्ष तक अर्थात् ई. पू. पाँचवीं शती से ईसा की पाँचवीं शती तक का उल्लेख करती हैं, फिर भी इसमें सम्प्रदाय-भेद की कहीं चर्चा नहीं हैं, मात्र गणभेद आदि की चर्चा है।

श्वेताम्बर परम्परा के उपलब्ध आगमिक साहित्य स्थानाङ्ग और आवश्यकनिर्युक्ति में हमें सात निह्नवों का उल्लेख मिलता है[२१]। (निह्नव वे हैं जो सैद्धान्तिक या दार्शनिक मान्यताओं के सन्दर्भ में मतभेद रखते हैं, किन्तु आचार और वंश वही रखते हैं।) इन सात निह्नवों में कहीं भी बोटिक (बोडिय) जिन्हें सामान्यतया दिगम्बर मान लिया जाता है, किन्तु वस्तुत: जो यापनीय हैं, का उल्लेख नहीं है। बोटिक सम्प्रदाय का सर्वप्रथम उल्लेख आवश्यक मूलभाष्य की गाथा (१४५ से १४८ तक)में मिलता है[२२]। ये गाथायें हरिभद्र की आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में निर्युक्ति गाथा ७८३ के पश्चात् संकलित हैं। इस प्रकार श्वेताम्बर आगमिक साहित्य आवश्यक मूलभाष्य की रचना के पूर्व तक बोटिक, यापनीय एवं दिगम्बर परम्पराओं के सम्बन्ध में हमें कोई सूचना नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देता है। आश्चर्य यह है कि स्त्रीमुक्ति एवं केवलीकवलाहार का निषेध करने वाली दिगम्बर-परम्परा का उल्लेख तो विक्रम की आठवीं शती के पूर्व किसी भी श्वेताम्बर-ग्रन्थ में नहीं मिलता है। साहित्यिक दृष्टि से यापनीय सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जो उल्लेख उपलब्ध हैं वे लगभग ईसा की ५वीं शताब्दी या उसके पश्चात् के हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि इसके पूर्व भी यह सम्प्रदाय अस्तित्व में तो अवश्य ही आ गया था।

जहाँ तक अभिलेखीय साक्ष्यों का प्रश्न है, मथुरा के ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के जो जैन-अभिलेख उपलब्ध हैं, इनमें गणों, शाखाओं, कुलों एवं सम्भोगों के उल्लेख मिलते हैं। ये समस्त गण, कुल, शाखायें और सम्भोग कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार ही हैं[२३]। दिगम्बर-साहित्य में हमें इन गणों, शाखाओं एवं कुलों का किञ्चित भी संकेत उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि मथुरा से उपलब्ध उन सभी मूर्तियों और आयागपट्टों (जिनपर ये अभिलेख अंकित हैं) में तीर्थङ्कर को नग्न रूप में अंकित किया गया है किन्तु वहीं उसी काल में कल्पसूत्र एवं आचाराङ्ग (द्वितीय श्रुतस्कंध) में उल्लिखित महावीर के गर्भपरिवर्तन की घटना का अंकन भी उपलब्ध होता है[२४]। साथ ही उन अभिलेखों में कल्पसूत्र के अनुरूप गण, कुल,, शाखा और संभोगों के उल्लेख यह सूचित करते हैं कि ये सभी अभिलेख और मूर्तियाँ दिगम्बर-परम्परा से सम्बद्ध नहीं हैं। पुन: मथुरा के प्राचीन शिल्प में मुनि के हाथ की कलाई पर लटकते हुए वस्त्र-खण्ड का अंकन भी जिससे वे अपनी नग्नता को छिपाये हुए हैं, इस शिल्प को दिगम्बर-परम्परा से पृथक् करता है[२५]। पुन: मथुरा का जैन-शिल्प यापनीय भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यापनीय परम्परा की उत्पत्ति इससे परवर्ती है इसमें आर्य कृष्ण (अज्ज कण्ह) का जिनके शिष्य शिवभूति से आवश्यक मूलभाष्य में बोटिक या यापनीय परम्परा का विकास माना गया है, नामोल्लेख पूर्वक अंकन उपलब्ध है। पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने इसे अर्धस्फालक सम्प्रदाय का माना है[२६], किन्तु इस सम्प्रदाय के अस्तित्व का दशवीं शती के पूर्व का कोई भी साहित्यिक या अभिलेखीय साक्ष्य नहीं है। पं० नाथूरामजी प्रेमी के अनुसार ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं था। यह मात्र संघभेद के पूर्व की स्थिति है[२७]। सत्य तो यह है कि यापनीयों या बोटिकों ने आर्य कृष्ण के उसी वस्त्रखण्ड का विरोध करके अचेलक परम्परा के पुन: स्थापन का प्रयत्न किया था। देश-काल के प्रवाह में जैन-संघ में जो परिवर्तन आ रहे थे उसी का विरोध यापनीयों या बोटिकों की उत्पत्ति का कारण बना।

इस प्रकार अभिलेखीय और साहित्यिक दोनों ही प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी तक चाहे महावीर के धर्मसंघ में विभिन्न गण, शाखा, कुल और सम्भोग अस्तित्व में आ गये थे, फिर भी श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय जैसे वर्गों का स्पष्ट विभाजन नहीं हो पाया था। अत: यह स्पष्ट है कि जैन-धर्म में श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं यापनीय सम्प्रदाय ईसा की तीसरी शती या उसके पश्चात् ही अस्तित्व में आये हैं। यद्यपि इस संघ-भेद के मूल कारण इसके पूर्व भी भीतर-भीतर अपनी जड़ें जमा चुके थे।

श्वेताम्बर-परम्परा में मतभेद और संघभेद सम्बन्धी जो सूचनायें उपलब्ध हैं, उनमें प्रथमत: स्थानाङ्ग एवं आवश्यकनिर्युक्ति में सात निह्नवों की चर्चा है। ये सात निह्नव जामालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्टमहिल हैं। इनमें प्रथम दो महावीर के जीवन-काल में और शेष पाँच उनके निर्वाण के पश्चात् २१४ से ५८४ वर्ष के बीच में हुए हैं[२८]। किन्तु इनमें बोटिक या बोडिय का कहीं भी उल्लेख नहीं है। हम ऊपर देख चुके हैं कि बोडिय (बोटिक) का सर्वप्रथम उल्लेख आवश्यकमूलभाष्य में है। इसके अनुसार वीर-निर्वाण के ६०९ वर्ष के पश्चात् रथवीरपुर नगर के दीपक उद्यान में अज्ज कण्ह के शिष्य शिवभूति द्वारा बोटिक परम्परा की उत्पत्ति हुई[२९]। आवश्यकमूलभाष्य आवश्यकनिर्युक्ति एवं विशेषावश्यकभाष्य के मध्यकाल की रचना है। उपलब्ध आवश्यकनिर्युक्ति वीर-निर्वाण के पश्चात् ५८४ वर्ष तक की अर्थात् ईसा की प्रथम शती की घटनाओं का उल्लेख करती है[३०], अत: उसके पश्चात् ही उसका रचना-काल माना जा सकता है। विशेषावश्यकभाष्य का रचनाकाल सामान्यतया ईसा की छठी शताब्दी का अन्तिम चरण (शक ५३१ के पूर्व) माना जाता है[३१]। अत: इस अवधि के बीच ही बोटिक मत या यापनीय परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ होगा। आवश्यकमूलभाष्य में जो वीर-निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद अर्थात् ईसा की द्वितीय शती में इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख है, वह किसी सीमा तक सत्य प्रतीत होता है।

दिगम्बर-परम्परा में जैन-संघ के विभाजन की सूचना देने वाला कोई प्राचीन ग्रंथ नहीं है, मात्र ई० सन् ९४२ (वि० सं० ९९९) में देवसेन द्वारा रचित 'दर्शनसार' है[३२]। इस ग्रन्थ के अनुसार विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र देश के वलभी नगरी में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। इसमें यह भी कहा गया है कि श्रीकलश नामक श्वेताम्बर मुनि से विक्रम संवत् २०५ में यापनीय संघ उत्पन्न हुआ[३३]। चूँकि 'दर्शनसार' आवश्यकमूलभाष्य की अपेक्षा पर्याप्त परवर्ती है अत: उसके विवरणों की प्रामाणिकता को स्वीकार करने में विशेष सतर्कता की आवश्यकता है, फिर भी इतना निश्चित है कि जब आवश्यकमूलभाष्य और दर्शनसार दोनों ही वि० सं० १३६ अथवा १३९ या वीर-निर्वाण संवत् ६०६ या ६०९ में संघ-भेद की घटना का उल्लेख करते हैं[३४] तो एक दूसरे से पुष्टि होने के कारण इस तथ्य को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि विक्रम सम्वत् की प्रथम शती के अन्त या द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में जैनों में स्पष्ट रूप से संघभेद हो गया। 'दर्शनसार' में इस संघ-भेद की घटना के ७० वर्ष पश्चात् यापनीय-संघ की उत्पत्ति का उल्लेख है। आवश्यकमूलभाष्य में भी कहा गया है कि शिवभूति के शिष्य कौडिन्य और कोट्टवीर से यह परम्परा आगे चली[३५]। अत: यह मानने में विशेष बाधा नहीं आती कि यही बोटिक सम्प्रदाय जिसका उल्लेख आवश्यकमूलभाष्य में मिलता है, ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्त में एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ होगा। यद्यपि यह प्रश्न अनिर्णीत ही है कि उसने पूर्ण स्वतंत्र होकर '**यापनीय**' नाम कब धारण किया, क्योंकि 'यापनीय'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग दक्षिण भारत में मृगेशवर्मन् के ईसा की पाँचवी शताब्दी के एक अभिलेख में मिलता है[३६]। किन्तु उत्तर भारत में इससे पूर्व यह सम्प्रदाय अपनी जड़ें जमा चुका होगा। संभावना यह है कि इसके पूर्व श्वेताम्बर इसे बोटिक कहने लगे होंगे किन्तु यह अपने आपको पंचस्तूपान्वय प्रकट करता रहा होगा क्योंकि अचेलक परम्परा में जिसका एक अंग यापनीय भी है, परम्परा के विभेद-सूचक शब्दों में सबसे प्राचीन यही है। संभावना यही है कि इसी पंचस्तूपान्वय नाम को लेकर यापनीयों ने दक्षिण भारत में प्रवेश किया होगा और वहाँ इन्हें श्वेताम्बरों द्वारा निष्कासित मानकर दिगम्बर-परम्परा द्वारा यापनीय नाम दिया गया होगा।

यापनीय सम्प्रदाय का जीवन-काल

साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों से हम स्पष्ट रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यापनीय सम्प्रदाय विक्रम संवत् की द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अस्तित्व में आया क्योंकि आवश्यकमूलभाष्य यापनीयों की उत्पत्ति वीर-निर्वाण संवत् ६०९ बताता है और तब से लेकर विक्रम संवत् की १५वीं शताब्दी तक इसका अस्तित्व रहा। इस तथ्य की कागबाड़े से प्राप्त शक संवत् ३१६ अर्थात् विक्रम संवत् ४५१ के इस सम्प्रदाय के अन्तिम अभिलेख से पुष्टि होती है। इस अभिलेख में यापनीय संघ के आचार्यो—धर्मकीर्ति और नागकीर्ति का उल्लेख है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से यह सम्प्रदाय लगभग १३०० वर्षों तक जीवित रहा।

यापनीय-संघ की उत्पत्ति-कथा

यापनीयों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में कथायें उपलब्ध होती हैं। श्वेताम्बर परम्परानुसार रथवीरपुर नगर के दीपक नामक उद्यान में आर्यकृष्ण नामक आचार्य का आगमन हुआ। उस नगर में सहस्रमल्ल शिवभूति निवास करता था। प्रतिदिन अर्द्धरात्रि के पश्चात् घर आने के कारण उसकी अपनी माता और पत्नी से कलह होती थी। एक बार रात्रि में विलम्ब से आकर द्वार खुलवाने पर उसकी माता ने द्वार न खोलते हुए कहा इस समय जहाँ द्वार खुला हो वहीं चले जाओ। निराश होकर नगर में घूमते समय उसे मुनियों का निवास-द्वार दिखाई पड़ा। उसने अन्दर जाकर मुनियों का वन्दन किया और प्रव्रजित होने की आकांक्षा व्यक्त की। पहले आचार्य सहमत नहीं हुए परन्तु स्वयं उसके केश-लुञ्चन कर लेने पर आचार्य ने उसे मुनिलिङ्ग प्रदान किया। एक बार रथवीरपुर आगमन पर राजा ने उसे बहूमूल्य रत्नकम्बल भेंट किया। आचार्य ने इसके ग्रहण करने पर आपत्ति की, उन्होंने शिवभूति को बिना बताये ही रत्नकम्बल का आसन निर्मित कर लिया। इस कारण आचार्य और शिवभूति में मतभेद उत्पन्न हो गया। एक बार आचार्य द्वारा जिनकल्प का वर्णन करते समय उसने वर्तमान में जिनकल्प का आचरण न करने और अधिक उपधि (परिग्रह) रखने का कारण पूछा? आचार्य ने उत्तर दिया- जम्बू स्वामी के पश्चात् जिनकल्प का विच्छेद हो गया। शिवभूति ने कहा-मैं जिनकल्प का आचरण करूँगा, उपधि के परिग्रह से क्या लाभ? क्योंकि परिग्रह के सद्भाव में कषाय, मूर्च्छा आदि अनेक दोष हैं। आगम में भी अपरिग्रह का उल्लेख है, जिनेन्द्र भी अचेल थे अतः अचेलता सुन्दर है। इस पर आचार्य ने उत्तर दिया कि शरीर के सद्भाव में भी कभी-कभी कषाय, मूर्च्छा आदि होते हैं तब तो देह का भी परित्याग कर देना चाहिए, आगम में अपरिग्रह का जो उपदेश दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि धार्मिक उपकरणों में मूर्च्छा नहीं रखना चाहिए। जिन भी एकान्त रूप से अचेलक नहीं हैं, क्योंकि सभी जिन एक वस्त्र लेकर दीक्षित होते हैं। गुरु के इस प्रकार प्रतिपादित करने पर भी शिवभूति कर्मोदय के कारण वस्त्रों का त्याग करके संघ से पृथक् हो गया। उसे वन्दन करने हेतु आई उसकी बहन उत्तरा भी उसका अनुसरण कर अचेल हो गई। किन्तु भिक्षार्थ नगर में आने पर गणिका ने उसे देखा और कहा कि इस प्रकार लोग हमसे विरक्त हो जायेगें या हमारे प्रति आकर्षित नहीं होंगे। उसने उत्तरा के उर में वस्त्र बांध दिया। यद्यपि उसने वस्त्र की अपेक्षा नहीं की, किंतु शिवभूति ने कहा कि इसे देवता का दिया हुआ मानकर ग्रहण करो। शिवभूति के दो शिष्य हुए कौडिन्य और कोट्टवीर। इन शिष्यों से उसकी पृथक् परम्परा आगे बढ़ी[३६]।

अर्धमागधी आगम-साहित्य एवं मथुरा के अंकन से ज्ञात होता है कि आर्यकृष्ण के समय में मुनि नग्नता को छिपाने के लिए वस्त्र खण्ड का उपयोग करते थे[३८]। सम्भवतः शिवभूति का इसी प्रश्न पर आर्य कृष्ण से विवाद हुआ होगा। इस कथा में भी मतभेद का मुख्य कारण वस्त्र एवं उपधि का ग्रहण ही माना गया है। कथानक के अन्य तथ्यों में कितनी प्रामाणिकता है यह विचारणीय है। यह सम्भव है कि शिवभूति द्वारा अचेलकता को ग्रहण करने पर उनकी बहन एवं सम्बन्धित साध्वियों ने भी अचेलकत्व का आग्रह किया होगा किन्तु शिवभूति ने साध्वियों की अचेलकता को उचित न समझकर कहा हो कि जिस प्रकार तीर्थङ्कर देवदूष्य नामक वस्त्र ग्रहण करते हैं उसी प्रकार साध्वियों को भी देवता का दिया हुआ मानकर एक वस्त्र ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा में बोटिकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कथा मिलती है वह साम्प्रदायिक अभिनिवेश से पूर्णतया मुक्त तो नहीं है- फिर भी इतनी सत्यता अवश्य है कि बोटिक अचेलकता के प्रश्न को लेकर तत्कालीन परम्परा से अलग हुए थे तथा उन्होंने साध्वियों के लिए एक वस्त्र रखना मान्य किया था। कथानक का शेष भाग साम्प्रदायिक अभिनिवेश की रचना है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी सत्यता इस अर्थ में है कि आर्यकृष्ण और शिवभूति काल्पनिक व्यक्ति न होकर ऐतिहासिक व्यक्ति हैं क्योंकि उनका उल्लेख कल्पसूत्र की स्थविरावली में मिलता है। अज्जकण्ह (आर्यकृष्ण) का उल्लेख मथुरा के अभिलेख में भी है[३९]।

दिगम्बर-परम्परा में यापनीय-संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो कथानक उपलब्ध होते हैं। देवसेन (लगभग ई० सन् की दसवीं शताब्दी) के दर्शनसार नामक ग्रन्थ की २९वीं गाथा के अनुसार श्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कलश नामक श्वेताम्बर साधु ने विक्रम की मृत्यु के २०५ वर्ष पश्चात् कल्याण नगर में यापनीय-संघ प्रारम्भ किया[४०]। ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण का अभाव है।

यापनीय-संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरा कथानक रत्ननन्दी के भद्रबाहुचरित्र (ईसा की लगभग १५वीं शताब्दी में उपलब्ध होता है[४१]-

करहाटक के राजा भूपाल की पत्नी नृकुलादेवी ने राजा से आग्रह किया कि वे उसके पैतृक नगर जाकर वहाँ आये हुए आचार्यों को आने हेतु अनुनय करें। राजा ने नृकुलादेवी के निर्देशानुसार अपने मन्त्री बुद्धिसागर को भेजकर उन मुनियों से करहाटक पधारने की प्रार्थना की। राजा के आमन्त्रण को स्वीकार कर वे मुनिगण करहाटक पधारे। उनके स्वागत हेतु जाने पर राजा ने देखा कि वे साधु सवस्त्र हैं और उनके पास भिक्षा-पात्र और लाठी भी है। यह देखकर राजा ने उन्हें वापस लौटा दिया। नृकुला देवी को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने उन मुनियों से दिगम्बर मुद्रा में पिच्छि-कमण्डलु लेकर पधारने का आग्रह किया और उन्होंने तदनुरूप दिगम्बर मुद्रा धारण कर नगर-प्रवेश किया। इस प्रकार वे साधु-वेष से तो दिगम्बर थे किन्तु उनके क्रिया-कलाप श्वेताम्बरों जैसे थे। यापनीय-संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रत्ननन्दी का यह कथन पूर्णतः प्रामाणिक नहीं है। यापनीयों की उत्पत्ति श्वेताम्बर-परम्परा से न होकर उस मूल धारा से हुई है जो श्वेताम्बर-परम्परा की पूर्वज थी, जिससे काल-क्रम में वर्तमान श्वेताम्बर-धारा का विकास हुआ है। बस्तुतः महावीर के धर्मसंघ में जब वस्त्र-पात्र आदि में वृद्धि होने लगी थी और अचेलकत्व-प्रतिष्ठा क्षीण होने लगी, उससे अचेलता के पक्षधर यापनीय और सचेलता के पक्षधर श्वेताम्बर ऐसी दो धारायें निकलीं। पुनः यापनीय सम्प्रदाय का जन्म दक्षिण में न होकर उत्तर भारत में हुआ। यापनीयों ने जब दक्षिण भारत में प्रवेश किया होगा तब वे श्वेताम्बर साधु का वेश लेकर गये थे। यह एक भ्रान्त धारणा ही है। उनके कथन में मात्र इतनी ही सत्यता हो सकती है कि यापनीयों के आचार-विचार में कुछ बातें श्वेताम्बर-परम्परा के समान और कुछ बातें दक्षिण में उपस्थित दिगम्बर-परम्परा के समान थीं।

इन्द्रनन्दी के 'नीतिसार' में यद्यपि यापनीयों की उत्पत्ति-कथा नहीं दी गई है किन्तु पाँच प्रकार के जैनाभासों की चर्चा करते हुए उसमें उन्होंने यापनीयों का भी उल्लेख किया है - गोपुच्छिक श्वेतवासा, द्रविड़, यापनीय और निःपिच्छक[४२]।

इन्द्रनन्दी के उपर्युक्त कथन से मात्र इतना ही फलित होता है कि यापनीय-परम्परा इन्द्रनन्दी की मूलसंघीय दिगम्बर-परम्परा से भिन्न थी, वे उन्हें जैनाभास मानते थे अर्थात् उनकी दृष्टि में यापनीय जैनधर्म के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। वस्तुतः यापनीय-संघ की उत्पत्ति और स्वरूप सम्बन्धी जो कथानक मिलते हैं वे सभी विरोधियों द्वारा प्रस्तुत हैं और संघ की यथार्थ स्थिति से अवगत नहीं कराते हैं। यापनीय-संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मेरा चिन्तन इस प्रकार है -मथुरा के अङ्कनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यकृष्ण के समय अर्थात् विक्रम की दूसरी शताब्दी में जैनमुनि वस्त्रखण्ड, पिच्छि या रजोहरण एवं पात्र धारण करने लगे थे। हो सकता है छेदसूत्रों में वर्णित १४ उपकरण पूर्ण रूप से प्रचलित न भी हो पाये हों किन्तु इतना अवश्य है कि वस्त्र-खण्ड रखकर नग्नता छिपाने का प्रयत्न और भिक्षा-पात्रों का प्रयोग होने लगा था। यह वस्त्रखण्ड सम्भवतः मुख-वस्त्रिका के रूप में ग्रहण किया जाता था, उसे हाथ की कलाई पर डालकर नग्नता को छिपा लिया जाता था, विशेष रूप से जब भिक्षादि हेतु नगर में जाना होता था। शिवभूति का आर्यकृष्ण से इसी प्रश्न को लेकर विवाद हुआ होगा। जहाँ आवश्यकमूलभाष्य में आर्यकृष्ण और शिवभूति के मध्य गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बताया गया है, वहाँ कल्पसूत्र स्थविरावली में शिवभूति को अज्ज दुज्जेन्त कण्ह के पहले दिखाया गया है। फिर भी दोनों की समकालिकता में कहीं बाधा नहीं आती है। वस्तुतः विवाद दोनों के बीच हुआ था इसमें कोई सन्देह नहीं है। श्वेताम्बर-परम्परा में भी रत्नकम्बल प्रसङ्ग को लेकर जो कथानक खड़ा किया गया है वह मुझे प्रामाणिक नहीं लगता। वस्तुतः महावीर के पश्चात् उनके संघ में वस्त्र-पात्र ग्रहण करने का क्रमशः विकास हुआ है। क्षुल्लकों और सदोजलिङ्ग वाले व्यक्तियों अथवा राज-परिवार से आये व्यक्तियों के लिए अपवादरूप में वस्त्र रखने की अनुमति पहले से ही थी किन्तु जिन कल्प का विच्छेद मानकर जब यह सामान्य नियम बनने लगा तो शिवभूति ने इसका विरोध कर अचेलता को ही उत्सर्ग-मार्ग स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनके पूर्व भी आर्यरक्षित को अपने पिता जो उनके ही संघ में दीक्षित हो गये थे, नग्नता धारण करवाने हेतु विशेष प्रयत्न करना पड़ा था क्योंकि वे अपने परिजनों के समक्ष नग्न नहीं रहना चाहते थे। यद्यपि इन्हीं आर्यरक्षित ने भिक्षा-पात्र के अतिरिक्त वर्षाकाल में मल-मूत्र आदि के लिए एक अतिरिक्त पात्र रखे जाने की अनुमति भी दी थी। महावीर के काल से ही निर्ग्रन्थ-संघ में नग्नता का एकान्त आग्रह तो नहीं था किन्तु उसे अपवाद के रूप में तो स्वीकृत किया ही गया था। किन्तु जब जिनकल्प को विच्छिन्न मानकर अचेलता के अपवाद को ही उत्सर्ग मानकर नग्नता को छिपाने के लिए वस्त्र-खण्ड रखना अनिवार्य किया होगा तो शिवभूति को अचेलता को ही उत्सर्ग-मार्ग के रूप में स्वीकार करने के लिए संघर्ष करना पड़ा। उन्होंने जिनकल्प को विच्छिन्न न मानकर समर्थ के लिए अचेलता और पाणीतल-भोजी होना आवश्यक माना। आपवादिक स्थिति में वस्त्र-पात्र से उनका विरोध नहीं था। भगवतीआराधना में हमें उनके इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। यद्यपि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उनके द्वारा अचेलकत्व के पुनर्स्थापन के इस प्रयास से स्पष्ट रूप से संघ-भेद हो गया था क्योंकि कल्पसूत्र की पट्टावली में जो अन्तिम परिवर्धन देवर्द्धिगणि के समय पाँचवीं शताब्दी में हुआ उसकी पहली गाथा में गौतम-गोत्रीय फल्गुमित्र, वशिष्ठ-गोत्रीय धनगिरि, कोत्स-गोत्रीय शिवभूति और कौशिक-गोत्रीय दोष्यन्त या दुर्जयन्त कृष्ण का नामोल्लेख है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि इसमें शिवभूति के पश्चात् आर्यकृष्ण का उल्लेख है जबकि आवश्यकमूलभाष्य में शिवभूति को आर्यकृष्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का शिष्य बताया गया है। सम्भावना यह हो सकती है कि शिवभूति और आर्यकृष्ण गुरु-शिष्य न होकर गुरु बन्धु हों। किन्तु इससे शिवभूति और आर्यकृष्ण के समकालिक होने में कोई बाधा नहीं आती है। यह भी सत्य ही है कि उपधि के प्रश्न को लेकर शिवभूति और आर्यकृष्ण के बीच यह विवाद हुआ होगा और शिवभूति के शिष्यों कौडिन्य और कोट्टवीर से अचेलता की समर्थक यह धारा पृथक् रूप से प्रवाहित होने लगी।

यापनीयों का उत्पत्ति-स्थल

यापनीयों अथवा बोटिकों के उत्पत्ति-स्थल को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराएँ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखती हैं। श्वेताम्बरों के अनुसार उनकी उत्पत्ति रथवीरपुर नामक नगर में हुई, यह नगर मथुरा के समीप उत्तर भारत में स्थित था[३८]। जबकि दिगम्बरों के अनुसार इनका उत्पत्ति स्थल दक्षिण भारत में उत्तर पश्चिमी कर्णाटक में स्थित करहाटक था[३९]। इस प्रकार श्वेताम्बरों के अनुसार वे उत्तर में और दिगम्बरों के अनुसार दक्षिण में उत्पन्न हुए। प्रश्न यह है कि उनमें से कौन सत्य है। श्वे० परम्परा के पक्ष में तथ्य यह है कि उसमें इस विभाजन को आर्यकृष्ण और शिवभूति से सम्बन्धित किया है - इन दोनों के उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में उपलब्ध है। पुन: आर्यकृष्ण की अभिलेख सहित मूर्ति भी मथुरा से उपलब्ध है जो वस्त्रखण्ड कलाई पर डालकर अपनी नग्नता छिपाये हुए हैं। अस्तु, आवश्यकमूलभाष्य का उत्तर भारत में उनकी उत्पत्ति का संकेत प्रामाणिक है। जहाँ तक रत्ननन्दी के दक्षिण भारत में इनकी उत्पत्ति के उल्लेख का प्रश्न है, वह इसलिए अधिक प्रामाणिक नहीं है क्योंकि प्रथम तो वह उनकी उत्पत्ति १२०० वर्षों बाद जब यह सम्प्रदाय मरणासन्न स्थिति में था तब लिखा गया - जबकि आवश्यकमूलभाष्य उनकी उत्पत्ति के लगभग २०० वर्ष पश्चात् निर्मित हो चुका था। दूसरे उस कथानक की पुष्टि के अन्य कोई साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य नहीं है। दक्षिण भारत में उनकी उत्पत्ति बताने का मूल कारण यह है कि यापनीयों का दिगम्बर-परम्परा से साक्षात्कार दक्षिण भारत में ही हुआ था।

क्या यापनीय और बोटिक एक हैं ?

जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं प्राचीन श्वेताम्बर-साहित्य में यापनीय संघ का उल्लेख हरिभद्र के पूर्व उपलब्ध नहीं होता है, उसके पूर्व हमें जो उल्लेख मिलता है, वह बोटिकों का ही है, अत: यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि बोटिक कौन थे ? क्या इनका यापनीयों से कोई सम्बन्ध था ? इनकी परम्परा क्या थी ? बोटिकों की उत्पत्ति-कथा से ही यह स्पष्ट है कि इन्होंने जिनकल्प का विच्छेद स्वीकार नहीं किया था और वस्त्र को परिग्रह मानकर मुनि के लिए अचेलकता का ही प्रतिपादन किया। शिवभूति द्वारा अपनी बहन उत्तरा को वस्त्र रखने की अनुमति देना यह भी सूचित करता है कि इस सम्प्रदाय में साध्वियाँ सवस्त्र रहती थीं। इस सम्प्रदाय के तत्कालीन परम्परा से मतभेद के जो उल्लेख मिलते हैं उनसे यही फलित होता है कि उनका मुख्य विवाद मुनि के ही सचेल और अचेल होने के सम्बन्ध में था। स्त्री-मुक्ति और कवलाहार के सम्बन्ध में इनका कोई मतभेद नहीं था। विशेषावश्यकभाष्य में इन्हें आचाराङ्ग आदि आगमों को स्वीकार करने वाला माना गया है।[४३] ये दिगम्बर-परंपरा के समान न तो स्त्री-मुक्ति और केवली-मुक्ति का निषेध करते थे और न जैनागमों का पूर्णत: विच्छेद ही स्वीकार करते थे। मात्र यह कहते थे कि आगमों में जो वस्त्र-पात्र के उल्लेख हैं वे आपवादिक स्थिति के हैं। इस प्रकार ये स्त्री-मुक्ति और केवली-कवलाहार की विरोधी और आगमों को विच्छिन्न मानने वाले दिगम्बर सम्प्रदाय से भिन्न हैं। इस सम्बन्ध में पं० दलसुखभाई मालवणिया, प्रो० ढाकी और मेरा लेख द्रष्टव्य है।[४४]

यदि हम बोटिकों की इस मान्यता की तुलना यापनीय-परम्परा से करते हैं तो दोनों में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। यापनीयों का जो भी साहित्य उपलब्ध है, उससे भी स्पष्ट रूप से यही निष्कर्ष निकलता है कि यापनीय यद्यपि मुनि की अचेलता पर बल देते थे किन्तु दूसरी ओर वे स्त्री-मुक्ति, अन्य तैर्थिकों (दूसरी धर्म-परम्परा) की मुक्ति, केवलीकवलाहार और आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार, मरणविभक्ति, प्रत्याख्यान आदि अर्धमागधी आगमों को स्वीकार करते थे। वे दिगम्बर-परम्परा के समान अंग आदि आगमों के सर्वथा विच्छेद की बात नहीं मानते हैं, इस परम्परा में आगे चलकर जिन स्वतन्त्र ग्रन्थों और उनकी टीकाओं का निर्माण हुआ उनमें अर्धमागधी आगम-साहित्य की सैकड़ों गाथायें और उद्धरण प्राप्त होते हैं। अत: उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर पूर्णरूपेण सुनिश्चित है कि यापनीय और बोटिक दोनों सम्प्रदाय एक ही हैं। सम्भवत: उन्हें 'बोटिक' श्वेताम्बरों ने और 'यापनीय' नाम दिगम्बरों ने प्रदान किया था। क्योंकि श्वेताम्बर ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके लिये कहीं भी बोटिक नाम का उल्लेख नहीं है। उस समय वे अपने आपको क्या कहते थे ? यह शोध का विषय है। यद्यपि अभिलेखीय साक्ष्यों से यह निश्चित होता है कि पांचवीं शताब्दी से वे अपने लिये 'यापनीय' शब्द का प्रयोग करने लगे थे। अभिलेखों में सर्वप्रथम 'यापनीय' शब्द का सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयोग मृगेशवर्मन के हल्सी के अभिलेख में हुआ है जो पाँचवीं शती का है[४५]। अत: इसके पश्चात् इनके लिए यापनीय शब्द प्रयोग होने लगा होगा और आवश्यक मूलभाष्य में प्रयुक्त बोटिक केवल श्वेताम्बर आगमिक व्याख्या-साहित्य तक ही सीमित रह गया।

यापनीय-संघ के अभिलेखीय साक्ष्य

यापनीय-संघ और उसके आचार्यों, भट्टारकों एवं उपासकों के सम्बन्ध में हमें जो सूचनायें उपलब्ध होती हैं, उनके दो आधार हैं- एक साहित्यिक उल्लेख और दूसरे अभिलेखीय साक्ष्य। इन साहित्यिक उल्लेखों और अभिलेखीय साक्ष्यों में भी अभिलेखीय साक्ष्य अधिक प्रामाणिक कहे जा सकते हैं क्योंकि प्रथम तो वे समकालिक होते हैं, दूसरे इनमें किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना अत्यल्प होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यापनीय सम्प्रदाय के सम्बन्ध में हमें अनेक अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध होते हैं । इन अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर प्रो० आदि नाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने 'अनेकान्त वर्ष २८, किरण-१ में यापनीय-संघ के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है । प्रस्तुत विवेचन का आधार उनका वही लेख है किन्तु हमने इन अभिलेखों के मुद्रित रूपों को देखकर अपेक्षित सामग्री को जोड़ा भी है ।

यापनीय-संघ के सम्बन्ध में सर्वप्रथम अभिलेख हमें 'कदम्बवंशीय' मृगेशवर्मन् ई० सन् (४७५-४९०) का प्राप्त होता है । इस अभिलेख में यापनीय, निर्ग्रन्थ एवं कुर्चकों को भूमिदान का उल्लेख मिलता है[४६]। इसी काल के एक अन्य अभिलेख (ई० सन् ४९७ से ५३७ के मध्य) दामकीर्ति, जयकीर्ति प्रतीहार, निमित्तज्ञान पारगामी आचार्य बन्धुसेन और तपोधन शास्त्रागम खिन्न कुमारदत्त नामक चार यापनीय आचार्यों एवं मुनियों के उल्लेख हैं[४७] । इसमें यापनीयों को तपस्वी (यापनीयास्तपस्विनः) तथा सद्धर्ममार्ग में स्थित (सद्धर्ममार्गस्थित) कहा गया है । आचार्यों के लिए 'सूरि' शब्द का प्रयोग हुआ है । इन दोनों अभिलेखों से यह भी सूचना मिलती है कि राजा ने मन्दिर की पूजा, सुरक्षा और दैनिक देखभाल के साथ-साथ अष्टाह्निका महोत्सव एवं यापनीय साधुओं के भरण-पोषण के लिए दान दिया था, इससे यह फलित होता है कि इस काल तक यापनीय-संघ के मुनियों के आहार के लिए कोई स्वतन्त्र व्यवस्था होने लगी थी और भिक्षावृत्ति गौण हो रही थी अन्यथा उनके भरण-पोषण हेतु दान दिये जाने के उल्लेख नहीं होते । इसके पश्चात् देवगिरि से कदम्बवंश की दूसरी शाखा के कृष्णवर्मा के (ई० सन् ४७५-४८५) काल का अभिलेख मिलता है, जिसमें उसके पुत्र युवराज देववर्मा द्वारा त्रिपर्वत के ऊपर के कुछ क्षेत्र अर्हन्त भगवान के चैत्यालय की मरम्मत, पूजा और महिमा के लिए यापनीय संघ को दिये जाने का उल्लेख है ।[४८] इस अभिलेख के पश्चात् ३०० वर्षों तक हमें यापनीय-संघ से सम्बन्धित कोई भी अभिलेख उपलब्ध नहीं होता जो अपने आप में एक विचारणीय तथ्य है । इसके पश्चात् ई० सन् ८१२ का राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्ष का एक अभिलेख प्राप्त होता है[४९] । इस अभिलेख में यापनीय आचार्य कुविलाचार्य के प्रशिष्य एवं विजयकीर्त्ति के शिष्य अर्ककीर्ति का उल्लेख मिलता है । इस अभिलेख में यापनीय नन्दीसंघ और पुन्नागवृक्ष मूलगण एवं श्री कित्याचार्यान्दय का भी उल्लेख हुआ है । इस अभिलेख में यह भी उल्लेख है कि आचार्य अर्ककीर्ति ने शनि के दुष्प्रभाव से ग्रसित पुलिगिल देश के शासक विमलादित्य का उपचार किया था । इस अभिलेख से अन्य फलित यह निकलता है कि ईसा की नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यापनीय आचार्य न केवल मठाधीश बन गये थे अपितु वे वैद्यक और यन्त्र-मन्त्र आदि का कार्य भी करने लगे थे । लगभग ९वीं शताब्दी के एक अन्य अभिलेख[५०] में जो कि चिंगलपेठ, तमिलनाडु से प्राप्त हुआ है, यापनीय संघ और कुमिलिगण के महावीराचार्य के शिष्य अमरमुदलगुरू का उल्लेख है जिन्होंने देशवल्लभ नामका एक जिनमन्दिर बनवाया था । इस दानपत्र में यापनीय-संघ के साधुओं के भरण-पोषण का भी उल्लेख है । इससे भी यही लगता है कि इस काल तक यापनीय मुनि पूर्णतया मठाधीश हो चुके थे और मठों में ही उनके आहार की व्यवस्था होती थी । इसके पश्चात् यापनीय संघ से सम्बन्धित एक अन्य दानपत्र पूर्वी चालुक्यवंशीय 'अम्मराज द्वितीय' का है[५१] । इसने कटकाभरण जिनालय के लिए मलियपुण्डी नामक ग्राम दान में दिया था । इस मन्दिर के अधिकारी यापनीय-संघ 'कोटिमडुवगण' नन्दिगच्छ के गणधर सदृश मुनिवर जिननन्दी के प्रशिष्य मुनिपुंगव दिवाकर के शिष्य जिनसदृश गुणसमुद्र महात्मा श्री मन्दिर देव थे । इससे पूर्व के अभिलेख में जहाँ यापनीय नन्दीसंघ ऐसा उल्लेख है, वहाँ इसमें यापनीय-संघ नन्दीगच्छ ऐसा उल्लेख है ।

यापनीय-संघ से ही सम्बन्धित ई० सन् ९८० का चालुक्यवंश का भी एक अभिलेख मिलता है[५२] । इस अभिलेख में शान्तिवर्म्म द्वारा निर्मित जैन मन्दिर के लिए भूमिदान का उल्लेख है, इसमें यापनीय-संघ के काण्डूरगण के कुछ साधुओं के नाम दिये गये हैं यथा - बाहुबलिदेवचन्द्र, रविचन्द्रस्वामी, अर्हन्नन्दी, शुभचन्द्र, सिद्धान्तदेव, मौनिदेव और प्रभाचन्द्रदेव आदि । इसमें प्रभाचन्द्र को शब्द विद्यागमकमल, षट्तर्काकलङ्क कहा गया है । ये प्रभाचन्द्र - 'प्रमेय कमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमदचन्द्र' के कर्त्ता प्रभाचन्द्र से भिन्न यापनीय आचार्य शाकटायन के 'शब्दानुशासन' पर 'न्यास' के कर्त्ता हैं ।

प्रो० पी० बी० देसाई ने अपने ग्रन्थ में सौदत्ति (बेलगाँव) के एक अभिलेख की चर्चा की है जिसमें यापनीय-संघ के काण्डूरगण के शुभचन्द्र प्रथम, चन्द्रकीर्ति, शुभचन्द्र द्वितीय, नेमिचन्द्र प्रथम, कुमार कीर्त्ति, प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र द्वितीय के उल्लेख हैं[५३] । इसी प्रकार यापनीय-संघ से सम्बन्धित ई० सन् १०१३ का एक अन्य अभिलेख 'बेलगाँव' की टोड्डावसदी की नेमिनाथ की प्रतिमा की पादपीठ पर मिला है, जिसे यापनीय-संघ के पारिसय्य ने ई० सन् १०१३ में निर्मित करवाया था[५४] । इसी प्रकार सन् १०२० ई० के 'रट्ठवग' लेख में प्रख्यात यापनीय-संघ के 'पुन्नागवृक्षमूलगण के प्रसिद्ध उपदेशक आचार्य कुमारकीर्ति पण्डितदेव को 'हुविनवागे' की भूमि के दान का उल्लेख है ।[५५] ई० सन् १०२८-२९ के हासुर के अभिलेख में यापनीय-संघ के गुरु जयकीर्ति को सुपारी के बाग और कुछ घर मन्दिर को दान में देने के उल्लेख हैं ।[५६] 'हुली' के दो अभिलेख जो लगभग ई० सन् १०४४ के हैं उनमें यापनीय-संघ के पुन्नागवृक्ष मूलगण के बालचन्द्रदेव भट्टारक[५७] का तथा दूसरे में रामचन्द्रदेव[५८]का उल्लेख है । इसी प्रकार ई० सन् १०४५ के मुगद (मैसूर) लेख में भी यापनीय-संघ के कुमुदिगण के कुछ आचार्यों के उल्लेख मिलते हैं - श्रीकीर्ति गोरवडि, प्रभाशशांक, नयवृत्तिनाथ, एकवीर, महावीर, नरेन्द्रकीर्ति नागविक्कि, वृत्तीन्द्र, निरवद्यकीर्ति, भट्टारक, माधवेन्दु, बालचन्द्र, रामचन्द्र, मुनिचन्द्र, रविकीर्ति, कुमारकीर्ति, दामनंदि, त्रैविद्यगोवर्धन, दामनन्दि वड्डाचार्य आदि ।[५९] यद्यपि प्रोफेसर उपाध्ये ने इन नामों में से कुछ के सम्बन्ध में कृत्रिमता की सम्भावना व्यक्ति की है किन्तु उनका आधार क्या है, यह उन्होंने अपने लेख में स्पष्ट नहीं किया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार मोरब जिला धारवाड के एक लेख में यापनीय-संघ के जय-कीर्तिदेव के शिष्य नागचन्द्र के समाधिमरण का उल्लेख है। इसमें नागचन्द्र के शिष्य कनकशक्ति को मन्त्रचूडामणि बताया गया है।[६०] सन् १०९६ में त्रिभुवनमल्ल के शासनकाल में यापनीय-संघ के पुन्नागवृक्ष मूलगण के मुनिचन्द्र त्रैविद्य भट्टारक के शिष्य चारुकीर्ति पंडित को सोविसेट्टि द्वारा एक उपवन दान दिये जाने का उल्लेख है।[६१] इस दानपत्र में यह भी उल्लेख है कि इसे मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य दायियय्य ने लिपिबद्ध किया था। धर्मपुरी जिला बीड़, महाराष्ट्र के एक लेख में यापनीय-संघ और वन्दियूर गण के महावीर पंडित को कुछ नगरों से विविधकरों द्वारा प्राप्त आय का कुछ भाग भगवान् की पूजा और साधुओं के भरण-पोषण हेतु दान दिये जाने का उल्लेख है।[६२] इसी प्रकार ११ वीं शताब्दी के एक अन्य अभिलेख में यापनीय-संघ की माइलायान्वय एवं कोरेयगण के देवकीर्ति को गन्धवंशी शिवकुमार द्वारा जैन-मन्दिर निर्मित करवाने और उसकी व्यवस्था हेतु कुमुदवाड नामक ग्राम दान में देने का उल्लेख है।[६३] इस अभिलेख में देवकीर्ति के पूर्वज गुरुओं में शुभकीर्ति, जिनचन्द्र, नागचन्द्र, गुणकीर्ति आदि आचार्यों का भी उल्लेख है। इसी प्रकार बल्लाल देव, गणंधरादित्य के समय में ईसवी सन् ११०८ में मूलसंघ पुन्नागवृक्ष मूलगण की आर्यिका रात्रिमती कन्ति की शिष्या बम्मगवुड़ द्वारा मन्दिर बनवाने का उल्लेख है[६४]। यहाँ मूलसंघ का उल्लेख कुछ भ्रान्ति उत्पन्न करता है, यद्यपि पुन्नागवृक्षमूल गण के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आर्यिका यापनीय-संघ से ही सम्बन्धित थी क्योंकि पुन्नागवृक्षमूलगण यापनीय-संघ का ही एक गण था।

बइलमोंगल जिला बेलगाँव से चालुक्यवंशी त्रिभुवन मल्लदेव के काल का अभिलेख[६५] प्राप्त है इसमें यापनीय-संघ मइलायान्वय कारेय गण के मूल भट्टारक और जिनदेव सूरि का विशेष रूप से उल्लेख है। इसी प्रकार विक्रमादित्य षष्ठ के शासन काल का हूलि जिला बेलगाँव का एक अभिलेख[६६] है जिसमें यापनीय-संघ के कण्डूरगण के बहुबली शुभचन्द्र, मौनिदेव, माघनंदि आदि आचार्यों का उल्लेख है। एकसम्बि जिला बेलगाँव से प्राप्त एक अभिलेख[६७] में विजयादित्य के सेनापति कालण द्वारा निर्मित नेमिनाथ बसति के लिए यापनीय-संघ पुन्नागवृक्षमूलगण के महामण्डलाचार्य विजयकीर्ति को भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। इस अभिलेख में इन विजयकीर्ति की गुरुपरम्परा के रूप में मुनिचन्द्र विजयकीर्ति प्रथम, कुमारकीर्ति और त्रैविद्य विजयकीर्ति का भी उल्लेख हुआ है।

अर्सिकेरे, मैसूर के एक अभिलेख[६८] में यापनीय-संघ के मडुवगण की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। इस मन्दिर की मूर्ति प्रतिष्ठा पुन्नागवृक्ष-मूलगण और संघ (यापनीय के शिष्य भाणकसेली) द्वारा कराई गई थी। प्रतिष्ठाचार्य यापनीय-संघ के मडुवगण के कुमारकीर्ति सिद्धान्त थे। इस अभिलेख में यापनीय शब्द को मिटाकर काष्ठामुख शब्द को जोड़ने की घटना की सूचना भी सम्पादक से मिलती है। इनके अतिरिक्त १२वीं शताब्दी में लोकापुर जिला बेलगाँव के एक अभिलेख[६९] में उभय सिद्धान्त चक्रवर्ती यापनीय-संघ के कण्डूरगण के गुरु सकलेन्दु सैद्धान्तिक का उल्लेख है। इसी क्षेत्र के मनोलि जिला बेलगाँव के एक अभिलेख में यापनीय-संघ के गुरु मुनिचन्द्रदेव के शिष्य पाल्य कीर्ति के समाधिमरण का उल्लेख है[७०]- ये पाल्यकीर्ति सम्भवत: सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाल्यकीर्ति शाकाटायन ही हैं, जिनके द्वारा लिखित शब्दानुमान एवं उसकी अमोघवृत्ति प्रसिद्ध है। इनके द्वारा लिखित स्त्री-निर्वाण और केवली मुक्ति-प्रकरण भी शाकटायन-व्याकरण के साथ भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि ये यापनीय-परम्परा के आचार्य थे। इसी प्रकार १३वीं शदी के हुकेरि जिला बेलगाँव के एक अभिलेख में[७१] त्रैकीर्ति का नामोल्लेख मिलता है। यापनीय-संघ का अन्तिम अभिलेख[७२] ईसवी सन् १३९४ का कगवाड जिला बेलगाँव में उपलब्ध हुआ है। यह अभिलेख तलघर में स्थित भगवान् नेमिनाथ की पीठिका पर अंकित है। इस पर यापनीय-संघ और पुन्नागवृक्षमूलगण के नेमिचन्द्र, धर्मकीर्ति और नागचन्द्र का उल्लेख हुआ है।

यापनीय-संघ के अवान्तर गण और अन्वय

अभिलेखीय एवं साहित्यिक आधारों से हमें यापनीय-संघ के अवान्तर गणों और अन्वयों की सूचना मिलती है। इन्द्रनंदि के नीतिसार के आधार पर प्रो० उपाध्ये लिखते हैं कि यापनीयों में सिंह, नन्दि, सेन और देवसंघ आदि नाम से सबसे पहले संघ-व्यवस्था थी, बाद में गण, गच्छ आदि की व्यवस्था बनीं।[७३] किन्तु अभिलेखीय सूचनाओं से यह ज्ञात होता है कि गण ही आगे चलकर संघ में परिवर्तित हो गए। कदम्ब-नरेश रविवर्मा के हल्सी अभिलेख में यापनीय संघेभ्य: ऐसा बहुवचनात्मक प्रयोग है।[७४] इससे यह सिद्ध होता है कि यापनीय-संघ के अन्तर्गत भी कुछ संघ या गण थे। यापनीय संघ के एक अभिलेख में 'यापनीय नन्दीसंघ' ऐसा उल्लेख मिलता है।[७५] ऐसा प्रतीत होता है कि नंदि संघ यापनीय परम्परा का ही एक संघ था। कुछ अभिलेखों में यापनीयों के नंदिगच्छ का भी उल्लेख उपलब्ध होता है।[७६] दिगम्बर-परम्परा के अभिलेखों में गच्छ शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, सामान्यतया उनमें संघ, गण और अन्वय के प्रयोग पाये जाते हैं। जबकि श्वेताम्बर-परम्परा के अभिलेखों में गण, गच्छ, शाखा, कुल और संभोग के प्रयोग हुए हैं। यापनीय-संघ के अभिलेखों में भी केवल उपर्युक्त अभिलेख में गच्छ शब्द का प्रयोग मिला है।

यापनीयसंघ के जिन गणों, अन्वयों का उल्लेख मिला है- उनमें पुन्नागवृक्षमूलगण, कुमिलि अथवा कुमुदिगण मडुवगण, कण्डूरगण, या काणूरगण, बन्दियूर गण, कोरेय गण का उल्लेख प्रमुख रूप से हुआ है।[७७] सामान्यतया यापनीय-संघ से सम्बन्धित अभिलेखों में अन्वयों का उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु ११वीं शताब्दी के कुछ अभिलेखों में कोरेयगण के साथ मइलायान्वय अथवा मैलान्वय के उल्लेख मिलते हैं।

इन गणों और अन्वयों का अवान्तर भेद किन-किन सैद्धान्तिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतभेदों पर आधारित थे, इसकी हमें कोई प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। इन गणों और अन्वयों की चर्चा के प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण चर्चा यह है कि कुछ अभिलेखों में यापनीय-नन्दिसंघ ऐसा उल्लेख मिला है तो क्या इस आधार पर यह माना जाय कि नंदिसंघ यापनीय-परम्परा से सम्बन्धित था। पुनः नंदिसंघ के कुछ अभिलेखों में द्रविड़गण और 'अरुणान्वय' के भी उल्लेख मिलते हैं तो क्या हम यह मानें कि द्रविड़ गण और अरुणान्वय का सम्बन्ध भी यापनीय संघ से था ? यद्यपि इतना तो निश्चित है कि 'दर्शनसार' में जिन जैनाभासों की चर्चा की गई है, उनमें यापनीय और द्रविड़ दोनों को ही सम्मिलित किया गया है[७८] - इसमें यह भी कहा गया है कि द्रविड़ संघ में स्त्रियों को दीक्षा दी जाती थी इससे यह सम्भावना तो व्यक्ति की ही जा सकती है कि द्रविड़ संघ और यापनीय संघ दोनों स्त्री की प्रव्रज्या के समर्थक थे और वे मूलसंघीय दिगम्बर-परम्परा जो स्त्री की दीक्षा का निषेध करती थी, से भिन्न थे। इसी कारण उनको जैनाभास कहा गया। सम्भावना यही है कि दोनों में पर्याप्त रूप से निकटता थी। प्रो० ढाकी की तो मान्यता है कि द्रविड़ संघ का विकास यापनीय नन्दी-संघ से ही हुआ होगा।[७९]

श्वेताम्बर स्रोतों से यह जानकारी भी मिलती है कि यापनीय-परम्परा गोप्य-संघ के नाम से भी जानी जाती थी। हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की टीका में गुणरत्न लिखते हैं कि नाग्न्य लिंग और पाणिपात्रीय दिगम्बर चार प्रकार के हैं -

(१) काष्ठा संघ (२) मूलसंघ, (३) माथुर संघ और (४) गोप्य संघ।

१. काष्ठा संघ में चमरी गाय के बालों की पिच्छी रखी जाती है। इसे भी दर्शनसार में जैनाभास कहा गया है। मूलसंघ और गोप्य संघ में मयूर-पिच्छी ग्रहण की जाती है। माथुर संघ निष्पिच्छिक है। इनमें प्रथम तीन अर्थात् काष्ठा, मूल और माथुर संघ के साधु बन्दर करनेवाले को 'धर्म वृद्धि' कहते हैं तथा स्त्री एवं सवस्त्र की मुक्ति को स्वीकार नहीं करते। गोप्य-संघ के मुनि वन्दन करने वाले को 'धर्म-लाभ' कहते हैं तथा स्त्री मुक्ति और केवली मुक्ति को स्वीकार करते हैं। यह गोप्य-संघ यापनीय-संघ भी कहा जाता है।[८०]

सन्दर्भ

१. a- Indian Antiquary, Vol. VII, p. 34
b- H. Luders : E. IV; p338
c- नाथूराम प्रेमी: जैन हितैषी, XIII पृ० २५०-७५
d- A. N. Upadhye : Journal of the University of Bombay, 1956, I, VI pp 22ff,
e. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास - द्वितीय संस्करण, बम्बई १९५६, पृ० ५६, १५५, ५२१
f. P.B. Desai : Jainism in South India, pp.163-66 आदि।
g. ए. एन. उपाध्ये : जैन सम्प्रदाय के यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश, अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४४-२५३.

२. ए. एन. उपाध्ये : जैन सम्प्रदाय के यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश, अनेकान्त वर्ष २८, किरण १, पृ० २४६.

३. जत्ता ते भंते ? जवणिज्जं (ते भंते ?) अव्वाबाहं (ते भंत्ते ?)-फासुयविहारं (ते भंते ?)?
सोमिला ! जत्ता वि मे, जवणिज्जं पि मे, अव्वा वाहं पि मे, फासुयविहारं पि मे भगवई (लाडनूँ), १०/२०६-२०७

४. किं ते भंते ! जवणिज्जं ?
सोमिला ! जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा इंदियजवणिज्जे य, नोइंदियजवणिज्जे य ॥
से किं तं इंदियजवणिज्जे ?
इंदियजवणिज्जे-जं मे सोइंदिय-चक्खिंदिय-घाणिंदिय-जिब्भिदियफासिंदियाई निरुवहयाई वसे वट्टंति, सेत्तं इंदियजवणिज्जे ॥ से किं तं नोइदियजवणिज्जे ?
नो इंदियजवणिज्जे जं मे कोह-माण-माया-लोभा वोच्छिण्णा नो उदीरेंति, सेत्तं नोइंदियजवणिज्जे, सेत्तं जवणिज्जे।
- भगवई (लाडनूँ), १०/२०८-२१०

५. आयस्मंतं भगु भगवा एतदवोच - "कच्चि, भिक्खु, खमनीयं, कच्चि यापनीयं, कच्चि पिण्डकेन न किलमसी" ति ? खमनीयं, भगवा, यापनीयं, भगवा, न चाहं, भन्ते पिण्डकेन किलमामी" ति।
- महावग्गो, १०-४-१६

६. अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४६.

७. पूर्वोक्त, अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४६

८. प्रो० एम. ए. ढाकी से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर।

९. अ- कालिका प्रसाद : बृहत् हिन्दी कोश (ज्ञानमंडल, वाराणसी) वि. सं. २००९, पृ. १०६८

(ब) वामन शिवराम आप्टे : संस्कृत-हिन्दी कोश (दिल्ली - १९८४) पृ. ८३४

१०. वामन शिवराम आप्टे-वही, पृ० ८३४

११. आवश्यकनिर्युक्ति (हरभिद्रीयवृत्ति) में उपलब्ध मूलभाष्य गाथा, पृ०२१५-१६

१२. 'स्त्रीग्रहणं तासामपि तद्भव इव संसारक्षयो भवति इति ज्ञापनार्थ-वचः यथोक्तम् यापनीयतंत्रे" - श्री ललितविस्तरा, पृ० ५७-५८, प्रका० ऋषभदेव केशरीमल संस्थान, रतलाम।

१३. उत्तराध्ययन, शान्त्याचार्य की टीका, पृ०, १८१.

१४. आवश्यक टीका (हरिभद्र कृत), पृ. ३२३

१५. अ - थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगुत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडियगण नामं गणे निग्गए। कल्पसूत्र (प्राकृतभारती, जयपुर संस्करण) सूत्र, २१३।

(ब) थेरेहिंतो णं कामिड्ढिहिंतो कुंडलिसगोत्तेहिंतो एत्थ णं वेसवाडियगणे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामं गणे निग्गये । कल्पसूत्र, सूत्र-२१४

१६. देखिये बोडुं- हिन्दी-गुजराती कोश (अहमदाबाद-१९६१) पृ. ३४८

१७. (अ) प्रो. एम. ए. ढाकी से व्यक्तिगत प्राप्त सूचना पर आधारित
(ब) देखिये बोटवुं- हिन्दी-गुजराती कोश, पृ. ३४८

१८. कल्पसूत्र स्थविरावली, २०७-२२४

१९. नन्दीसूत्र (मधुकर मुनि), गाथा, २५-५०

२०. पट्टावलीपरागसंग्रह कल्याण विजयगणि के प्रारम्भिक अध्याय

२१. (अ) समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थसि सत्त पवयणणिण्हगा पण्णत्ता, तं जहा-बहुरता, जीवपएसिया, अवत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया अवद्धिया ॥

एएसि णं सत्तण्हं पवयणणिण्हगाणं सत्तं मम्मायरिया हुत्था, तं जहा- जमाली, तीसगुत्ते, आसाढे, आसमित्ते, गंगे, छलुए, गोट्ठामाहिले ॥ एतेसि णं सत्तण्ह पवयणणिण्हगाणं सत्त उप्पत्तिणगरा हुत्था, तं जहा -

स्थानाङ्ग, सत्तमं, ठाणं १४०-१४२, पृष्ठ संख्या, ७५३-७५४;

(ब) बहुरय जमालिपंभवा जीवपएसस य तीसगुत्ताओ ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥७७९॥
गंगाओ दोकरिया छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।
थेरा य गोट्ठमात्यि पुट्ठुमबद्धं परूविंति ॥७८०॥
सावत्थी उसन्नपुरं सेयविया मिहिल उल्लुगतीरं ।
पुरिमंतरंजि दसपुर रतवीरपुरं च नगराइ ॥७८१॥
चोद्दस सोथस वासा चोद्दसवीसुत्तरां य दोण्णि सया ।
अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया उ चोयाला ॥७८२॥
पंथ सया तुलसीया छच्चेव सया ण्वोत्तरा होंति ।
णाणुप्पत्तीय दुवे उप्पण्णा णित्वुए सेसा ॥७८३॥

२२. छव्वाससयाइं नवुत्तराइं तइया सिद्धिगयस्स वीरस्स ।
तो बोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥
रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे य ।
सिवभुइस्सूवहिंमि य पृच्छा थेराण कहणा य ॥
ऊहाए पण्णत्तं बोडियसिवभूइत्तराहि इमं ।
मिच्छादंसणमिणमो रहवीरपुरे समुप्पण्णं ॥
बोडियसिवभूईओ बोडियलिंगस्स होई उप्पत्ती ।
कोडिण्ण-कोट्टवीरा . परंपराफासमुप्पण्णा ॥
-आवश्यक मूलभाष्य, १४५-१४८, उद्धृत-आवश्यक निर्युक्ति हरिभद्रीयवृत्ति, पृ० २१५

२३. पट्टावली परागसंग्रह, कल्याणविजय जी

२४. Jaina Stupas and Other Antiquities of India- V.A. Smith, Plate No. 10,15,17 pp. 24,25

२५. Ibid, pp.24-25.

२६. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० ३८५

२७. (अ) वही, पृ० ३८१ (ब) जैनहितैषी, भाग १३, अंक ९-१०

२८. स्थानाङ्ग, ७/१४०-१४२ व संग्रहणी गाथा

२९. आवश्यक मूलभाष्य, १४५-१४८
- उद्धृत आवश्यक निर्युक्ति हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. २१५-२१६

३०. आवश्यक निर्युक्ति ७९-७८३

३१. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका पृ. ३७३

३२. वही, पृ. ३७२

३३. जैनसाहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ. ३७२

३४. वही, पृ. २७२-२७३

३५. आवश्यक मूलभाष्य गाथा, १४५-१४८, उद्धृत आवश्यक निर्युक्ति हरिभद्रीय वृत्ति

३६. जैन शिलालेख-संग्रह, भाग २, अभिलेख सं १०२-१०३

३७. आवश्यकनिर्युक्ति हरिभद्रीयवृत्ति, पृष्ठ २१६-२१८

३८. Jain Stupas and other Antiquities of Mathura- V.A. Smith, Plate No. 10,15,17, pp 24.25

३९. (अ) कल्पसूत्र ।
(आ) Jain Stupas and other Antiquities of Mathura- V.A. Smith, Plate No. 10,15,17, pp 24.25

४०. Annals of the B. O. R. I. XV-III. IV, pp. 198 ff, Poona, 1934 ;
देखें अनेकान्त, वर्ष २८, किरण१, पृ० १३४

४१. भद्रबाहुचरित -कोल्हापुर १९२१, IV पृ० १३५-१५४ देखें अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १ ।

४२. गोपुच्छिका: श्वेतावासा: द्राविडो यापनीयका: ।
निः पिच्छिकश्चेति पंचैते जैनाभासा: प्रकीर्तिता: ॥
देखें-अनेकान्त, वर्ष २८ किरण. १, पृ० २४६

४३. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३०५४

४४. पं० बेचरदास दोशी स्मृति ग्रन्थ, सम्पादक : प्रो० एम. ए. ढाकी एवं प्रो० सागरमलजैन । पा. वि. शो० सं० से प्रकाशित, पृ० ६८-७३

४५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-२, लेख क्रमांक ९९.

४६. वही, भाग २, लेख क्रमांक ९९

४७. वही, भाग२, लेख क्रमांक ९९,१००

४८. वही, भाग २, लेख क्रमांक १०५

४९. वही भाग२, लेख क्रमांक १२४

५०. वही, भाग ४, लेख क्रमांक ७०

५१. वही, भाग२, लेख क्रमांक १४३

५२. वही, भाग२, लेख क्रमांक १६०

५३. Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs- Desai P.B. p. 165.

५४. देखें -अनेकान्त, वर्ष २८, किरण१, पृ० २४७

५५. (अ) Journal of the Bombay Historical Society,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

III, pp.102-200.
(ब) अनेकान्त, वर्ष २८ किरण १, पृ० २४८
५६. (अ) वही, पृ० २४८
(ब) South Indian Inscriptions XII No. 65, Madras 1940.
५७. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख क्रमांक १३०
५८ वही,
५९ (अ) अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४८
(ब) South Indian Inscriptions, XII No. 65, Madras 1940.
(स) जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेखक्रमांक १३१
६०. वही, भाग ४, लेखक्रमांक १४३
६१. वही, १६८
६२. वही, भाग ५, लेखक्रमांक ६९-७०
६३. I.A. XVIII. p. 309, Also see Jainism in South India P.B. Desai, p. 115
६४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेखक्रमांक २५०
६५. Annual Report of South Indian Insciptions. 1951-52, No. 33, p- 12 See also.
अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४८
६६. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेखक्रमांक २०७
६७. वही, भाग ४, लेखक्रमांक २५९.
६८. Journal of the Karnatak University, X, 1965, 159,ff.
६९. जैनशिलालेख संग्रह, भाग ५, लेखक्रमांक ११७.
७०. Jainism in South India, P.B. Desai, p. 404
७१. जैनशिलालेख संग्रह, सं० भाग २, क्रमांक ३८४.
७२. जिनविजय (कन्नड़) बेलगाँव जुलाई १९३१
७३. अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २५०.
७४. Epigraphia Indian X. No. 6; see Ibid., p. 247.
७५. अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४४-४५.
७६. वही, वर्ष २८, किरण १, पृ० २५०.
७७. जैन शिलालेख संग्रह, भाग लेख क्रमांक ।
७८. Annals of the B.O.R.I. XV, pp. 198, Poona 1934,
७९. व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर ।
८०. दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च । ते चतुर्धा काष्ठासङ्घमूलसङ्घ- माथुरसङ्घ-गोप्यसङ्घ-भेदात् । काष्ठासंघे चमरीबालैः पिच्छिका, मूलसङ्घे मायूरपिच्छैः पिच्छिका, माथुरसङ्घे मूलतोऽपि पिच्छिका नादृता, गोप्या मायूरपिच्छिका । आद्यास्त्रयोऽपि सङ्घावन्द्यमाना धर्म वृद्धिं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं सद्व्रत-स्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्वते, गोप्यस्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं च मन्यन्ते । गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते।
-षडदर्शनसमुच्चय-हरिभद्रसूरि, कारिका ४४: २ गुणरत्न टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org